

पाठ्यक्रम की 'बहस' पर बहस

मनोज कुमार

यह लेख दिल्ली विश्वविद्यालय के स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम में रामानुजन के लेख से उठे विवाद को एक व्यापक शैक्षिक मुद्दे के रूप में रखते हुए सवाल उठाता है कि शिक्षा में विभिन्न स्तरों पर क्या पढ़ाया जाए इसका निर्धारण किस तरह किया जाए ? यह सवाल जहां प्राकृतिक विज्ञानों या गणित जैसे विषयों के संदर्भ में आसान नजर आता है वहीं सामाजिक विज्ञानों और मानविकी में कहीं ज्यादा जटिल हो जाता है। दुनिया भर में यह सवाल आज भी पाठ्यचर्या निर्माताओं के लिए बड़ी चुनौती बना हुआ है।

ऐसा लगता है कि भारत में पाठ्यक्रम पर पिछले कुछ वर्षों में एक लोकप्रिय विमर्श निर्मित हुआ है। पहली नजर में इस विमर्श का स्वरूप लोकतांत्रिक प्रतीत होता है। अभी हाल में दिल्ली विश्वविद्यालय की अकादमिक परिषद् में यह निर्णय होना था कि इतिहास की कक्षा में प्रसिद्ध भारत विद्याविद् ए. के. रामानुजन का रामायण पर लिखा हुआ एक लेख पढ़ाया जाएगा या नहीं। रामानुजन ने इस लेख में भारत और एशियाई देशों में रामकथा के एक से अधिक प्रकार के आख्यानों और व्याख्याओं के मौजूद होने की बात की है। इतिहास विभाग के शिक्षकों ने इतिहास के स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम के लिए इसे उपयुक्त मानकर पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया था। इस लेख पर छात्रों, शिक्षकों और समाज के एक वर्ग ने आपत्ति जाहिर की। आपत्ति जाहिर करने का उपक्रम कुछ तो वैधानिक तरीके से मुकदमा आदि दायर करके संपन्न हुआ और कुछ वैधानिकता से आगे जाकर इतिहास विभाग में घुसकर हाथापाई करने जैसी कार्रवाइयों के जरिए हुआ। लोकप्रिय जनतांत्रिक राजनीति कई बार वैधानिकता से परे जाकर और कानून तोड़कर भी करनी पड़ती है। खैर, इसके आगे जो कुछ हुआ वह वैधानिक भी है और पूरी तरह लोकतांत्रिक भी। विश्वविद्यालय अकादमिक परिषद् सभी प्रकार के अकादमिक निर्णय लेने के लिए अधिकृत है और यह अकादमिक मामलों में विश्वविद्यालय का सर्वोच्च निकाय है जिसका निर्णय अकादमिक मामलों में बाध्यकारी होता है। इस परिषद् में दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्तर-अस्सी कॉलेजों के प्रिंसिपल आदि के साथ-साथ जीव विज्ञान, वाणिज्य संकाय आदि सभी विभागों और संकायों का भी प्रतिनिधित्व होता है। कुछ एसोसिएट प्रोफेसर आदि भी इसमें चुनकर आते हैं। कुल मिलाकर इस परिषद् में एक सौ साठ से अधिक सदस्य होते हैं।

तो **क्यामत के दिन** इस विद्वत् परिषद् के सौ के लगभग उपस्थित सदस्यों ने कुल दो घंटे तक 'बहस' की। बैठक की कार्यवाही सार्वजनिक दायरे में नहीं है इसलिए मानना पड़ेगा कि इस बहस की प्रकृति अकादमिक ही रही होगी, फिर भी ऐसी बैठकों के कुछ पूर्व अनुभवों की वजह से फिलहाल बहस को उद्धरण चिह्न के भीतर रखना ही उचित जान पड़ता है- कम से कम तब तक जब तक कि कोई आर. टी. आई. कार्यकर्ता इस बैठक की कार्यवाही को जनता के लिए उपलब्ध न करवा दे। बहरहाल, जब अकादमिक बहस से इस विषय का निपटारा नहीं हुआ तो शुद्ध लोकतांत्रिक तरीके से विद्वत् मंडली के सदस्यों से मत डलवाकर निर्णय लिया गया कि रामानुजन के लेख को पाठ्यक्रम से हटा दिया जाए। कुल नौ-दस वोट इस प्रस्ताव के विरोध में डाले गए और लगभग नब्बे वोट इसके पक्ष में।

इस सिलसिले में यह उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि न्यायालय ने इस संदर्भ में सीधे कोई निर्णय न देते हुए विश्वविद्यालय से कहा कि वह विशेषज्ञों की एक समिति बनाकर इस पर विचार करे और उस समिति के रिपोर्ट के आधार पर निर्णय ले। विश्वविद्यालय ने चार सदस्यों की एक समिति बनाई। समिति के चार में से तीन सदस्यों ने माना कि यह लेख पढ़ाए जाने योग्य है और इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे किसी की धार्मिक संवेदनशीलता को ठेस पहुंचे। चौथे सदस्य ने कहा कि अगर कोई शिक्षक इस लेख को उचित संदर्भों में रखकर पढ़ाए तो किसी प्रकार की दिक्कत नहीं है, लेकिन दिल्ली के कॉलेजों में पढ़ाने वाले ज्यादातर शिक्षकों में यह काबलियत नहीं है इसलिए यह लेख छात्रों के कच्चे दिमाग ('इंप्रेसनेवल माइंड') के लिए ठीक नहीं है। यह पता नहीं है कि अकादमिक परिषद् ने चौथे सदस्य के निष्कर्षों को अधिक महत्त्व दिया या किसी और आधार पर निर्णय सुनाया, लेकिन कम से कम विशेषज्ञों की राय को तवज्जो देने के मामले में बहुमत के सिद्धांत को दरकिनार कर देना उचित माना गया।

यह पूरा प्रकरण पिछले वर्षों में शिक्षाक्रम पर गढ़े जा रहे लोकप्रिय विमर्श को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पिछले डेढ़-दो दशकों से ऐसे मसले एक नियमित अंतराल पर प्रकट होते रहे हैं और हर बार पक्ष-प्रतिपक्ष की तर्क-प्रणाली एक जैसी दिखलाई पड़ती है।

विशेषज्ञता बनाम सामाजिक-नैतिक औचित्य के सवाल

विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में किसी विषय विशेष में किन मुद्दों को शामिल किया जाए और किस प्रकार की सामग्री का चयन किया जाए यह अधिकार किसे मिलना चाहिए ? आमतौर पर कम से कम विश्वविद्यालय स्तर पर विषय विशेषज्ञों के निर्णय को अधिक तवज्जो दिए जाने का चलन है। अगर अधिक ठोस उदाहरणों के आधार पर बात की जाए और कॉलेज में पढ़ने वाले किसी सामान्य छात्र-छात्रा और उनके माता-पिता से पूछा जाए कि वाणिज्य विषय में स्नातक स्तर पर पाठ्यक्रम एवं अध्ययन सामग्री के चयन का अधिकार किसे है तो वे सहज रूप से कहेंगे कि उस विषय के जानकार शिक्षिकाओं, शिक्षकों और शायद शोधकर्ताओं को। गणित और विज्ञान विषय में भी ऐसे ही जवाब की अपेक्षा की जा सकती है। अगर बातचीत को और बढ़ाते हुए कहा जाए कि चूंकि राजनीतिज्ञ इस देश के लिए नीतियां बनाते हैं और देश को नेतृत्व प्रदान करते हैं तो क्या उन्हें इस प्रक्रिया में शामिल नहीं होना चाहिए ? क्या किसी राजनेता या सामान्य नागरिक, चूंकि लोकतांत्रिक समाज में नागरिक और राजनेता के बीच कोई तात्त्विक अंतर नहीं है, को वाणिज्य के पाठ्यक्रम पर यह सवाल उठाने का हक नहीं है कि क्यों सारा बही-खाता निजी 'मुनाफे' को केन्द्र में रखकर सिखाया जाए ? क्यों नहीं सार्वजनिक संपत्ति के संरक्षण और संवर्धन को ध्यान में रखकर बही खाता सिखाया जाए ? मेरा अनुमान है कि अगर ऐसे सवाल उठाए जाएं तो सामान्य भारतीय माता-पिता विषय के विशेषज्ञों के पक्ष में खड़े नजर आएंगे।

इसके ठीक विपरीत सवाल अगर साहित्य या इतिहास के पाठ्यक्रम निर्धारण का हो तो विशेषज्ञों का पलड़ा काफी हल्का हो जाता है। या तो यह मान्यता व्याप्त है कि साहित्य, इतिहास या समाज-विज्ञान में सहज बोध से इस तरह किसी विशेषज्ञता की कोई गुंजाइश नहीं है और चूंकि ये विषय शिक्षा के विचारधारात्मक और नैतिक पक्ष से संबंधित हैं इसलिए इन्हें महज विशेषज्ञों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। और आखिरकार ये विशेषज्ञ भी तो 'निष्पक्ष' नहीं होते और इनकी भी अपनी विचारधारा होती है। इस प्रकार एक तरफ तो गणित, वाणिज्य और विज्ञान जैसे 'तकनीकी' विषय हैं जहां किसी भी नैतिक-राजनैतिक विचारधारा से अछूता निष्कलुष

ज्ञान संभव है और इसलिए विशेषज्ञों द्वारा निष्पक्ष ढंग से उसके पाठ्यक्रम का निर्धारण संभव है। दूसरी ओर साहित्य, इतिहास आदि विषय हैं जो मूलतः विचारधारात्मक और नैतिक आग्रहों से संबंधित हैं इसलिए इन्हें समाज की परंपराओं, मान्यताओं और आकांक्षाओं का ध्यान रखना चाहिए। इन विषयों का पाठ्यक्रम निर्धारण सामान्य सहमति या बहुमत से तय किया जाना चाहिए।

गणितीय व प्राकृतिक विज्ञान के ज्ञान का ढांचा पूरी तरह वस्तुनिष्ठ है या इस ज्ञान के निर्माण में मानवीय नैतिक-वैचारिक आग्रहों, मानवीय कल्पनाओं और उसकी आशा-आकांक्षाओं की भी कोई भूमिका है इस बारे में ज्ञानमीमांसकों में सहमति नहीं है, लेकिन तमाम शिक्षाविद् शायद इस बात से सहमत होंगे कि विज्ञान या गणित का पाठ्यक्रम भी एक वैचारिक उपकरण है। गणित, विज्ञान या वाणिज्य हम किस उद्देश्य से पढ़ाना चाहते हैं, इससे शिक्षाक्रम का स्वरूप और सामग्री का चयन प्रभावित होता है। इसलिए गणित और विज्ञान के पाठ्यक्रम पर सामान्य नागरिक और अकादमिक परिषद् में शामिल अन्य विषय के विशेषज्ञों को उसी अधिकार से बात करनी चाहिए जिस अधिकार से गणित के जैसे प्रोफेसर जो अकादमिक परिषद् में शामिल हैं इतिहास के पाठ्यक्रम पर बात करते हैं। लेकिन गणित पढ़ाने के उद्देश्यों पर जैसे ही बात नहीं की जा सकती है जैसे आलू की खेती करने के उद्देश्यों पर। इस बहस में शामिल होने वाले व्यक्ति के लिए जरूरी होगा कि उसे गणितीय ज्ञान के ढांचे का कुछ अंदाज हो और यह पता हो कि गणितीय ज्ञान हासिल करके किन-किन उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। यहां विषय के विशेषज्ञों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। उनकी बात को गौर से और धैर्य से सुनना आवश्यक हो जाता है। कुल मिलाकर अगर एक ओर गणित के शिक्षाक्रम का निर्माण सिर्फ गणितज्ञों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है तो दूसरी ओर उन्हें नजरअंदाज करके और सिर्फ वोट डलवाकर भी गणित का शिक्षाक्रम नहीं निर्धारित किया जा सकता है। सौभाग्य से ऐसी हास्यास्पद स्थिति की कल्पना दिल्ली या मेरठ यूनिवर्सिटी में नहीं की जा सकती है। इसके उलट यह संभव है कि गणित, वाणिज्य या भौतिक-विज्ञान के मामले में अन्य किसी सदस्य को या तो बोलने का हौसला ही नहीं हो या उस विषय के प्राध्यापक उसकी बात को पूरी तरह नजरअंदाज कर दें। दुर्भाग्य से पिछले कुछ वर्षों से इतिहास के शिक्षाक्रम के मामले में इतिहासकारों के अलावा सब की बात सुनी जाती है।

इतिहासकारों को लगातार स्वयं का और अपने अनुशासन का बचाव करना पड़ता है। प्रतिक्रिया में इतिहासकारों का एक समूह अपना बचाव विशेषज्ञता के तर्क के आधार पर करने लगता है। शिक्षाक्रम निर्माण में विशेषज्ञता का तर्क एक हद से आगे नहीं जाता है, हालांकि विश्वविद्यालय स्तर के शिक्षाक्रम के मामले में विषय की विशेषज्ञता का तर्क अधिक वैध हो जाता है, फिर भी शिक्षाक्रम का निर्धारण न तो अकेले विषय के विशेषज्ञों का एकाधिकार है और न ही समाज की चिंता करने वाले अन्य वर्गों का। यह बात जितना गणित के शिक्षाक्रम पर लागू होती है उतनी ही इतिहास के शिक्षाक्रम पर भी।

ज्ञान के औपचारिक अनुशासन के रूप में समाज विज्ञान की स्वीकृति

ज्ञान के सभी अनुशासन जीवनानुभवों की व्याख्या और उसका विश्लेषण करते हैं। ये अनुभव कई बार ठोस इन्द्रिय संप्रेषण के रूप में प्राप्त हो सकते हैं तो कई बार प्रायः दिखाई देने वाले मानव-व्यवहार के पैटर्न के रूप में। इन अनुभवों का विवरण देने के लिए और प्रायः उनकी व्याख्या-विश्लेषण के लिए भी अवधारणाएं गढ़नी पड़ती हैं और सिद्धांत निर्मित करने पड़ते हैं। अवधारणाओं का प्रयोग हम सामान्य जीवन में भी किसी अनुभव को पकड़ने और समझने के लिए करते हैं। ज्ञान के व्यवस्थित और औपचारिक अनुशासन में प्रयुक्त अवधारणाएं जैसे बल, गति, ऊर्जा, परमाणु, ग्रह, नक्षत्र, लोकतंत्र, मध्यकाल आदि का अर्थ अपेक्षाकृत अधिक स्थिर और विषय के जानकार लोगों के बीच सर्वमान्य होता है। इसी प्रकार दो परिघटनाओं के बीच सह-संबंध, कार्य-कारण संबंध आदि हम सामान्य जीवन में भी स्थापित करने की कोशिश करते हैं, लेकिन ज्ञान के औपचारिक अनुशासनों में प्रायः एक से अधिक विकल्पों पर धैर्यपूर्वक विचार करने की गुंजाइश होती है। इस प्रकार सहज बोध और ज्ञान के व्यवस्थित अनुशासनों के बीच कोई आत्यंतिक भेद नहीं है, लेकिन यह भी संभव है कि हम अपने सहज बोध से अनुभव की जो व्याख्या करते हैं ज्ञान के संबंधित अनुशासन में उसकी विपरीत व्याख्या मिल जाए। डार्विन का विकासवाद इसका एक उदाहरण हो सकता है।

वैसे सहज बोध सहज प्रकट तौर पर ही सहज होता है क्योंकि गौर से उसकी बनावट को परखने पर पता चलता है कि यह उस धार्मिक या सांस्कृतिक विश्वदृष्टि को प्रतिबिम्बित करता है जिसका समाज में दबदबा है। लेकिन सहज बोध कई मामलों में

अंतर्विरोधी भी हो सकता है और प्रतिरोध की विचारधारा के लोकप्रिय तत्त्वों को भी आत्मसात कर सकता है।

बहरहाल, ज्ञान के व्यवस्थित व औपचारिक अनुशासनों के बीच कई बार टकराव की नौबत आती है। ऐसा टकराव विज्ञान के साथ हो सकता है और ज्ञान के अन्य अनुशासनों के साथ भी। अमेरिका जैसे देशों में बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक तक डार्विन के विकासवादी और सृष्टिवाद (क्रिएशनिज्म) के बीच बहस चलती रही। अभी भी जब-तब इस बहस की अनुगूँज सुनाई पड़ जाती है। मजेदार बात यह है कि हिन्दुस्तान में विज्ञान के शिक्षाक्रम निर्धारण में ऐसी टकराहटें शायद ही कभी रही हों। डार्विन के विकासवाद संबंधी सिद्धांत को पाठ्यक्रम में बिना किसी हो-हल्ला के शामिल कर लिया गया। हिन्दुस्तान में ज्यादातर बहसों इतिहास और साहित्य के पाठ्यक्रम को लेकर हुई हैं। प्रायः इन्हीं क्षेत्रों में सहज बोध की टकराहट ज्ञान के व्यवस्थित अनुशासनों से होती रही है। यह एक मजेदार तथ्य है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि विज्ञान की तरह इतिहास आदि को एक व्यवस्थित अनुशासन के रूप में स्वीकृति नहीं मिली है, लेकिन इसके दूसरे ऐतिहासिक कारण भी हो सकते हैं।

शायद उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में औपनिवेशिक मध्यवर्ग ने भारत में आधुनिकता को एक खास तरह से आत्मसात किया जो निजी और सार्वजनिक, आध्यात्मिक जीवन और व्यवहारिक भौतिक जीवन, घर और बाहर आदि के स्पष्ट द्वैत पर आधारित था। पार्थ चैटर्जी और भारतीय आधुनिकता का अध्ययन करने वाले कई विद्वानों ने इसका विश्लेषण किया है। इन सभी युगों में दूसरे दायरे (स्फीयर) में औपनिवेशिक आधुनिकता से अंतर्क्रिया की कोशिश होती है और पहले दायरे को स्वायत्त रखते हुए उसमें भारतीयता को गढ़ने संवारने की कोशिश की जाती है। इस समाज-मनोवैज्ञानिक योजना में विज्ञान बाहरी दायरे की चीज है जिसका संबंध महज भौतिक जीवन से है। इस प्रकार नए उभरते भारतीय मध्यवर्ग के लिए आपद धर्म है और उसका स्वीकार कहीं भी उसके निजी आध्यात्मिक जीवन को दूषित नहीं करता है। कभी-कभी हमारा एंटी वायरस सिस्टम जब किसी वायरस को हटा नहीं पाता है तो उसे क्वारंटीन कर देता है। क्वारंटीन कर देने का अर्थ यह होता है कि वायरस कंप्यूटर में होगा तो, लेकिन उसके किसी प्रोग्राम से अन्तःक्रिया नहीं करेगा। ऐसा लगता है जैसे विज्ञान को भारतीय मध्यवर्ग ने औपनिवेशिक आधुनिकता के दौर में ही क्वारंटीन कर दिया था।

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो विज्ञान आदि के शिक्षाक्रम निर्धारण में सामाजिक-नैतिक औचित्य का सवाल नहीं उठाना और उसे विशेषज्ञों के भरोसे छोड़ देना उतना ही बहसतलब है जितना इतिहास साहित्य आदि के क्षेत्र में विशेषज्ञता को पूरी तरह नजरअंदाज कर देना। यह सच है कि हमारा सामाजिक जीवन कार्य-कारण के वैसे नियमों से संचालित नहीं होता जैसे नियमों से भौतिक पदार्थ और परिघटनाएं संचालित होती हैं- हमारा सामाजिक जीवन हमारी आकांक्षाओं और नैतिक आग्रहों से भी बनते-संवरते हैं। लेकिन इसके आधार पर जल्दी-बाजी में इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच जाना चाहिए कि इसे तार्किक अन्वेषण के दायरे में नहीं लाया जा सकता है या नहीं लाया जाना चाहिए।

अकादमिक परिषद् का फैसला

दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्वत् परिषद् ने रामानुजन के लेख पर अंतिम तौर पर जो फैसला लिया वह तो महत्वपूर्ण है ही, लेकिन फैसला लेने की प्रक्रिया ज्यादा उदास कर देने वाली घटना है। देश के एक अपेक्षाकृत साधन-संपन्न विश्वविद्यालय से यह अपेक्षा करना अनुचित नहीं है कि वह अपनी बहसों से देश में शिक्षाक्रम पर होने वाली बहसों को अधिक गहराई और विस्तार प्रदान करेगा। जो कुछ हुआ उसमें शिक्षाक्रम संबंधी लोकप्रिय विमर्श का छिछलापन ही उजागर हुआ। ऐसा नहीं है कि इतिहास के शिक्षाक्रम निर्धारण में सिर्फ इतिहासकारों की बात ही सुनी जानी चाहिए, लेकिन कम से कम अकादमिक परिषद् के सदस्यों से यह तो अपेक्षा की ही जा सकती है कि वे उस पर्व के उद्देश्य और रामानुजन के लेख को पढ़कर बहस में भाग लेंगे। जाहिर है कि इस प्रकार की गंभीर और अकादमिक बहसों को दो घंटों में नहीं निपटाया जा सकता था। ◆

लेखक परिचय

हिन्दी साहित्य में एम.फिल. करने बाद कॉलेज स्तर पर अनेक वर्षों तक अध्यापन। दिगन्तर में सीनियर फैलो के तौर पर करीब 4 साल तक कार्य करने के बाद अभी रूम टू रीड, इंडिया में कार्यरत।

संपर्क

कार्यालय 'रूम टू रीड', ई-18-ए, ईस्ट ऑफ कैलाश,
नई दिल्ली-110065